

‘राष्ट्र की रक्षा’ के नाम पर



संसद के गत सत्र में जितने विधेयक पारित किए गए हैं, उन्हें देखते हुए सत्र को सबसे उत्पादक कहा जाना कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उत्पादकता की सही कसौटी उसकी संख्या में नहीं, वरन् गुणवत्ता में होती है। पारित किए गए विधेयकों की जाँच-परख में कितना समय दिया गया, इसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखें-समझे जाने की जरूरत है। यह जानना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि कहीं भी यह उल्लिखित नहीं है कि जल्दबाजी में पारित किया गया कोई कानून प्रशासन के कामकाज को बेहतर कर सकता है।

ज्ञातव्य है कि जम्मू-कश्मीर, तीन तलाक और राष्ट्रीय चिकित्सा परिषद् से संबंधित विधेयक को राज्यसभा ने मात्र 4 घंटे में पारित कर दिया था। स्पष्ट है कि विधेयक से मतभेद रखने वाले और उन मतभेदों का सम्मान करने वाले सांसद वहाँ अनुपस्थित थे। दोनों सदनों में नाममात्र के वाद-विवाद के दिखावे के साथ कानूनों को पारित करने की सरकार की मंशा स्पष्ट थी।

सदन के नियमों की औपचारिकता को पूरा करने के लिए डीएमके, आरजेडी, सीपीएम आदि दलों को चार से छः मिनट का समय ही दिया गया। इतने कम समय में वे अपने विचारों को समग्रता के साथ प्रस्तुत नहीं कर सके। एक विचारशील संसद के हित की खातिर ऐसा तंत्र विकसित किया जाना चाहिए, जिसमें प्रत्येक दल को दिए गए समय में संख्या का दबाव न हो।

इस प्रकार की व्यवस्था से सर्वपल्ली राधाकृष्णन के विचारों को सार्थकता मिल सकेगी। उन्होंने अनेक अवसरों पर संसद को केवल एक विधायिका नहीं, बल्कि एक विचारशील संस्था कहा था। उन्होंने विधान और विचारशीलता के बीच संतुलन की वकालत की थी। चाहे इसके लिए संसद का सत्र जल्दी शुरू करके देर तक चलाना पड़े।

पूरे विश्व में ससदीय प्रजातंत्र का इतिहास यह बताता है कि किसी राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत मिलने पर उसमें सत्तावादिता की भावना आ जाती है। इससे सत्ताधारी दल विचारशीलता को दरकिनार करके विधेयकों को आगे ढकेलने में लग जाता है। यह समस्त प्रक्रिया राष्ट्र के नाम पर की जाती है।

राष्ट्र के नाम पर चलने वाले इस खेल को समझने और उस पर विचार करने की नितांत आवश्यकता है। भारत में यह खेल दलित, कश्मीरी और इसी प्रकार के अनेक समुदायों के तुष्टीकरण के लिए अनेक वर्षों से खेला जाता रहा है।

कुछ दशकों की वास्तविकता से अवगत होने पर भी हम केवल लक्षणों पर काम कर पा रहे हैं। रोग की जड़ पर कोई प्रहार नहीं कर पा रहे हैं। धीरे-धीरे भूमिगत भावनाएं ऊभरकर सामने आ रही हैं। समाज के साथ-साथ राजनीतिक दल भी आवाज उठाने लगे हैं। इसका उदाहरण जम्मू-कश्मीर में धारा 370 को निरस्त किए जाने को लेकर हुए विरोध में देखा जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सत्ताधारी दल ने 'राष्ट्र की इच्छा' की रक्षा का जैसे पूरा दायित्व उठा रखा है। यह स्वयंसिद्ध है कि सरकार के गठन के लिए राजनीतिक दल या गठबंधन को बहुमत हासिल करना पड़ता है। हमेशा से संसद का काम विधान के गठन और विचारशील कार्यप्रणाली पर रहा है। 1952 से संसद अपने इस दायित्व को पूरा कर रही है। अधिकांश मामलों में, दल या गठबंधन, आम सहमति निर्मित करने का प्रयास करते हैं। जब आमसहमति विफल हो जाती है, और विधान पर जब मतदान की बात हो, तो अल्पसंख्यकों की आवाज को सुना जाता है।

एक बहुसंख्यक संसद, आखिर संसद में बहुमत से भिन्न कैसे है?

संसद में बहुमत तो विचार-विमर्श के माध्यम से वैध बन जाता है। परन्तु एक अधिनायकवादी संसद में अल्पसंख्यक दल नैतिक आधार पर संख्या जीत दर्ज करती जाती है। एक ऐसे देश में जो अपनी विचार-विमर्श की परंपरा पर गर्व करता रहा है, अल्पमत का मूल्य न समझाना, प्रजातंत्र का गला घांटने के समान है।

जहाँ तक राष्ट्र की इच्छा की आड़ लेते हुए कानून बनाने की बात है, हमें गोल्डहेगन क्लासिक पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि, "हम जानते हैं कि ऐसे बहुत से समाज रहे हैं, जिनमें ब्रह्माण्डमूलक और सत्तामूलक विश्वास मान्य थे। अनेक समाज आए और गए हैं, जिनमें ईश्वर पर आस्था रही या डायनों में कुछ की पारलौकिक शक्तियों में यह भी समझा गया कि सभी विदेशी मानव नहीं हैं। यह कि एक व्यक्ति की जाति उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों को अलग करती है। यह कि पुरुष, महिला से उच्च श्रेणी का है या यह भी कि काले लोग हीन हैं या यहूदी लोग शैतान हैं।" इतिहास के एक बिन्दु पर इस प्रकार के विश्वास अधिकांश लोगों के मन में थे, और समय के साथ-साथ इन्हें ही राष्ट्र की इच्छा के नाम पर आगे बढ़ाया गया।

एक बहुसंख्यक संसद और इसकी कार्यप्रणाली को इस बात की अनदेखी करने की अनुमति नहीं दी जा सकती कि हमारी समकालीन चिंता, स्मृति और विस्मृति के बीच चल रहे लगातार संघर्ष की भी है।

अगर हमारे समकालीन न भी पूछें, तो भी इतिहास यह जरूर पूछेगा कि आखिर हम स्मृतिलोप की राजनीति के आगे क्यों झुक गए। सावधानी के तौर पर, हमें 1933-45 के बीच के नाज़ी शासन, को याद रखना चाहिए। साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इतिहास से बच पाना मुश्किल है। हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक चुनाव ही राष्ट्र की इच्छा का निर्माता होता है।

‘द इंडियन एक्सप्रेस’ में प्रकाशित मनोज कुमार झा के लेख पर आधारित। 18 सितम्बर, 2019

नोट - यूपीएससी, 2019, सामान्य अध्ययन-2 के प्रश्न-15 के उत्तर के रूप में इस लेख की सामग्री का उपयोग किया जा सकता है।

